राष्ट्र एवं सभ्यता के उभरते संदर्श : 21वीं शताब्दी का संदर्भ

हेमलता मिश्रा

प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, पण्डित ललित मोहन शर्मा परिसर ऋषिकेश.

सार

राष्ट्र और सभ्यता के बीच संबंध अंतरराष्ट्रीय संबंधों का एक जटिल और सूक्ष्म पहलू है। इस संबंध को शीत युद्ध के बाद के सिद्धांतों के ढांचे के भीतर विभिन्न दृष्टिकोणों से खोजा गया है। विद्वान यह समझने में जूझ रहे हैं कि राष्ट्र समकालीन वैश्विक संदर्भ में सभ्यता के साथ कैसे संपर्क करते हैं और कैसे उसे अपने मित्र एवं शत्रुओं की पहचान के साथ जोड़ते हैं। सत्य तो यह है कि शीत युद्ध जहाँ वैचारिकी या आइडियोलॉजी के संघर्ष से जुड़ा था वहीं इसके बाद के काल की राजनीति सभ्यता के संघर्ष पर आधारित की जा रही है, सभ्यता के संघर्ष की इस उभरती विचारधारा का संदर्भ राष्ट्रीय राज्य एवं राष्ट्रवाद से भी जोड़ा जा रहा है। इस अध्ययन में विभिन्न दृष्टिकोणों पर प्रकाश डालने के लिए, हम एक ओर तो पश्चिम के दो प्रमुख सिद्धान्तकारों, सैमुअल पी. हंटिंगटन और फ्रांसिस फुकुयामा के राष्ट्र और सभ्यता के बीच परस्पर विपरीत विचार सामने लाएंगे, वहीं दूसरी ओर स्वामी विवेकानन्द और रवीन्द्रनाथ टैगोर जैसे प्रभावशाली भारतीय विचारकों की अंतर्दृष्टि के माध्यम से इस संदर्श की जांच की जाएगी। इन दोनों भारतीय चिंतकों ने राष्ट्रवाद और सभ्यता पर पश्चिमी चिंतन को अस्वीकार किया है साथ ही राष्ट्र एवं सभ्यता के परस्पर संगतिपूर्ण अंतर्संबंधों पर प्रकाश डाला है।

1993 में हंटिंगटन की प्रसिद्ध कृति 'द क्लैश ऑफ सिविलाइजेशन' में हंटिंगटन सभ्यता को लचीले और सहायक के रूप में देखते हैं, वे यह सुझाव भी देते है कि राष्ट्र अपने हितों की पूर्ति के लिए रणनीतिक रूप से इसमें हेरफेर कर सकते हैं। इसके विपरीत, हेगेलियन दर्शन से प्रभावित फुकुयामा सभ्यता को एक प्रदत्त के रूप में देखते हैं और इस बात पर जोर देते हैं कि अंतरराष्ट्रीय राजनीति में अपनी स्थिति बनाए रखने के लिए राष्ट्रों को इसके साथ जुड़ना चाहिए।

संभवतः सबसे प्रमुख योगदान सैमुअल हंटिंगटन की 'द क्लैश ऑफ सिविलाइजेशन' की उप कल्पना का रहा जिसने 'राष्ट्रों और विभिन्न सभ्यताओं के समूहों' के बीच युद्ध की बढ़ती हुई संभावनाओं की ओर संकेत किया (हंटिंगटन, 1993)। विश्व भर में ख्यातिलब्ध इस रचना ने बताया कि जैसे-जैसे वैश्वीकरण की ताकतें प्रबल हुई हैं और लोग अपने समुदायों में तथा विभिन्न सभ्यताओं के संपर्क में आए हैं वैसे-वैसे सभ्यता के मतभेद पर आधारित इन संघर्षों के 'विस्तारित होने और तीव्र होने' की अधिक संभावना बनी है। यह एक तरह का पैराडॉक्स है कि विश्व-स्तर पर आपसी संवाद एवं व्यापारिक संपर्क के साथ ही बजाय सद्भाव एवं मित्रता के आपसी शत्रुता एवं मतभेदों में वृद्धि हुई है। हंटिंगटन की मानें तो आज के नागरिकों के लिए सभ्यता, उनकी सांस्कृतिक आत्म-पहचान का सबसे व्यापक स्तर है ।

आलोचक ये मानते हैं कि "सभ्यताओं का टकराव" के इस सिद्धांत ने इस्लामी दुनिया और पश्चिमी दुनिया के बीच संघर्षों को अपरिहार्य मानकर इस्लामोफोबिया को कायम रखने में योगदान दिया है। ये तो सच है कि "सभ्यताओं का टकराव" सिद्धांत जटिल भू-राजनीतिक मुद्दों को अधिक सरल बनाता है। एक विभाजनकारी कथा को बढ़ावा देता है जो मुस्लिम समुदायों को कलंकित करता है और

हाशिए पर धकेल सकता है। संस्कृतियों के प्रति इसके अनिवार्यवादी दृष्टिकोण और इस्लाम के खिलाफ पूर्वाग्रह को बढ़ावा देने की इसकी क्षमता के लिए इसकी आलोचना की गई है। व्यवहारमें "सभ्यताओं का टकराव" सिद्धांत को भेदभावपूर्ण नीतियों सैन्य हस्तक्षेपों और प्रतिबंधात्मक आव्रजन उपायों को उचित ठहराने के लिए लागू किया गया है जो मुस्लिम-बहुल देशों या मुस्लिम समुदायों को असमान रूप से लक्षित करते हैं। इस्लामोफोबिया पर आधारित विभाजनकारी आख्यानों का प्रतिकार करने के लिए संस्कृतियों और धर्मों के बीच संवाद को बढ़ावा देना आज एक प्रमुख चुनौती बन गया है।

फ्रांसिसफुकुयामा राजनीतिक सिद्धांत पर अपने प्रभावशाली काम के लिए जाने जाते हैं। खासकर उनकी पुस्तक "द एंड ऑफ हिस्ट्री एंड द लास्ट मैन"। राष्ट्र और सभ्यता के संदर्भ में फुकुयामा का दृष्टिकोण इतिहास के अंत पर उनकी व्यापक थीसिस से आकार लेता है । जहां उनका सुझाव है कि उदार लोकतंत्र राजनीतिक विकास के उच्चतम और अंतिम चरण का प्रतिनिधित्व करता है। सैमुअल पी. हंटिंगटन के विपरीत जो सभ्यताओं को अलग-अलग इकाइयों के रूप में देखते हैं जो टकरा सकती हैं । फुकुयामा का दृष्टिकोण अधिक आशावादी है। फुकुयामा का दृष्टिकोण सांस्कृतिक संघर्षों पर कम और राजनीतिक संस्थानों के विकास पर अधिक केंद्रित है। उनका मानना है कि राष्ट्र उदार लोकतंत्र के सिद्धांतों को अपना सकते हैं और राजनीतिक विकास सांस्कृतिक या सभ्यतागत कारकों से पूर्व निर्धारित नहीं होता है, सभ्यताओं के टकराव के सिद्धांत के विपरीत फुकुयामा उदार लोकतंत्र की ओर एक वैश्विक अभिसरण की कल्पना करता है। उनका तर्क है कि जैसे-जैसे समाज आधुनिक होते हैं और आर्थिक रूप से विकसित होते हैं। वे लोकतांत्रिक सिद्धांतों को अपनाने की संभावना रखते हैं। जो सामंजस्य पूर्ण वैश्विक व्यवस्था में योगदान करते हैं। फुकुयामा राष्ट्रों की नियति को आकार देने में विचारों और संस्थाओं की भूमिका पर जोर देता है। वह उदार लोकतांत्रिक आदर्शों के प्रसार को एक शक्तिशाली शक्ति के रूप में देखते हैं जो सांस्कृतिक या सभ्यतागत मतभेदों को दूर कर सकती है। फुकुयामा के विचार सीधे तौर पर सांस्कृतिक या सभ्यतागत संघर्षों पर केंद्रित नहीं हैं। उनका ध्यान इस बात पर है कि आधुनिक दुनिया में राष्ट्र और सभ्यताएँ कैसे परस्पर हैं। उनका दृष्टिकोण सांस्कृतिक या सभ्यतागत मतभेदों के आधार पर अपरिहार्य संघर्षों की धारणा को चुनौती देता है। उदार लोकतंत्र के बैनर तले एक अधिक एकीकृत और सहकारी वैश्विक समुदाय की कल्पना करता है।

हंटिंगटन के विपरीत, जो अभी भी राष्ट्र-राज्यों को सभ्यताओं के संघर्ष में प्रमुख अभिनेता मानते थे, फुकुयामा ने उदारवाद के विचार द्वारा प्रस्तुत सभ्यता को हमारे इतिहास की अंतिम स्थिति माना और जो राष्ट्र इस पर खरा उतरने में विफल रहे, उन्हें इसके अवशेषों के ढेर में डाल दिया गया। (फुकुयामा, 1989, पृष्ठ 3)। वह उदारवाद को 'एक बड़े एकीकृत विश्वदृष्टिकोण' (फुकुयामा, 1989, पृष्ठ 5) के रूप में देखते हैं - एक ऐसी सभ्यता जिसके इर्द-गिर्द दुनिया के राष्ट्र राष्ट्र-राज्य की सफलता की अलग-अलग डिग्री के साथ आगे बढ़ रहे हैं। हालाँकि, फुकुयामा हाल के दशकों में धर्म और राष्ट्रवाद दोनों के पुनरुत्थान का श्रेय किसी विशेष देश में 'उदारवाद की अपूर्णता' को देते हैं, चाहे वह कहीं भी सामने आए (फुकुयामा, 1989, पृष्ठ 13) न कि उदारवाद की विफलता के रूप में। जैसा कि वह लिखते हैं: "निश्चित रूप से दुनिया के जातीय और राष्ट्रवादी तनाव का एक बड़ा हिस्सा उन लोगों के संदर्भ में समझाया जा सकता है जो गैर-प्रतिनिधित्व वाली राजनीतिक प्रणालियों में रहने के लिए मजबूर हैं जिन्हें उन्होंने नहीं चुना है" (फुकुयामा, 1989, पृष्ठ 15)।

लेकिन इन दोनों पाश्चात्य चिंतकों के विचारों की कई स्तरों पर आलोचना की गई है। सबसे पहले, यदि हंटिंगटन ने शीत युद्ध के बाद की दुनिया में सभ्यताओं के आसन्न और घातक संघर्ष की गंभीर भविष्यवाणी की है, तो हम यह कैसे समझा सकते हैं कि संघर्षों के बावजूद, सभ्यताएँ जीवित, कायम और सह-अस्तित्व में हैं और हमारे पास अविश्वसनीय रूप से हैं उनके बीच लेन-देन और आदान-प्रदान का समृद्ध और अच्छी तरह से लिपिबद्ध इतिहास। सभ्यताओं का इतिहास जितना उनके घातक 'संघर्षों' और मृत्यु के बारे में है, उतना ही उनके सह-आवास, सह-संविधान और सह-अस्तित्व के समृद्ध जीवन के बारे में भी है।

इसके अलावा, हंटिंगटन के विवादास्पद पेपर में उन जटिल समाजों पर विचार नहीं किया गया है जिनमें अन्यथा 'टकराव' सभ्यताओं से संबंधित लोगों को सह-अस्तित्व की आवश्यकता होती है और ये समाज अलग-अलग सफलता के बावजूद चुनौतियों का सामना करते हैं। यह स्पष्ट है कि भारत भी एक जटिल समाज के रूप में योग्य है जो अपने विविध सभ्यतागत वंशों के साथ इसी तरह के समावेशी समूहों और समुदायों की एक आश्चर्यजनक विविधता को समाहित करता है।

भारतीय चिंतन में राष्ट्र और सभ्यता

भारतीय चिंतन एवं दर्शन में सभ्यताओं के संवाद में विभिन्न संस्कृतियों के बीच चल रहे आदान-प्रदान और बातचीत शामिल हैं, जिसमें खुले संचार, आपसी समझ और शांति और साझा मूल्यों के लिए सहयोग पर जोर दिया जाता है। इस अवधारणा में सांस्कृतिक, अंतरधार्मिक और बौद्धिक आदान-प्रदान, विविधता को पहचानना, समावेशिता को बढ़ावा देना और अंततः शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व के लिए पुल बनाने का लक्ष्य शामिल हैं।

भाव और सभ्यता

स्वामी विवेकानन्द और टैगोर दोनों के लिए, 'राष्ट्र' एक समावेशी 'भाव' हैं। भाव का वर्णन करते समय स्वामी विवेकानन्द यह तर्क भी देते हैं कि 'ऐसा कोई भाव नहीं है जिस पर केवल एक ही समुदाय का एकाधिकार हो (विवेकानन्द, 1977, पृ.3)। चूँकि एक भाव समूहों और समुदायों को तोड़ता है, यह एक समुदाय और उस भावना के बीच अक्सर स्थापित होनेवाले अनिवार्यतावादी संबंध को सुलझाता है जिसे इसके लिए विशिष्ट माना जाता है। टैगोर के अनुसार ऐसे समाज में जहां विभिन्न सिद्धांत या आत्माएं वर्चस्व हासिल करने के लिए आपस में लड़ती हैं और इस तरह राजनीतिक ढांचे को छिन्न-भिन्न करने का खतरा पैदा करती हैं, वहां समाज को एकीकृत करने और एकीकृत करने की जिम्मेदारी राज्य को सौंपी जाती है। यदि कोई चीज़ है जो यूरोपीय देशों को एक साथ रखती है तो वह है राष्ट्रीय स्वार्थ या राज्य के हित (टैगोर, 2015, पृष्ठ 204) जबकि भारत में समाज को एक सभ्यता के भीतर एकीकृत करने का यह कार्य ऐतिहासिक रूप से समाज द्वारा ही किया जाता था।

सभ्यताओं का सहअस्तित्व

1908 ई0 – में अपने मित्र एम-बोस को लिखे एक पत्र में गुरुदेव टैगोर स्पष्ट तौर पर यह घोषित करते हैं कि राष्ट्रवाद और देशभक्ति हमारी कभी भी अंतिम आध्यात्मिक शरणस्थली नहीं हो सकती। मैं मानवतावाद रूपी हीरे को बेच कर राष्ट्रवाद की कांच की गोलियाँ नही खरीदूंगा। जबतक मैं जीवित हूं तबतक मैं उग्र देशभक्ति को मानवतावाद के ऊपर विजेता नहीं बनने दूंगा। भारत तीर्थ और जण-गण-मण रूपी भारत माता की संकल्पना देनेवाले अपने तरह के अनुठे राष्ट्रवादी रवीन्द्रनाथ ठाकुर की इस आलोचनात्मक परिव्याप्ति को उनके करीब 60 वर्षों तक फैले सृजनात्मक जीवन के विस्तार में अनवरत विकसित होता हुआ देखा जा सकता है। कई चिंतकों ने उनके बहुचर्चित लेखों के संकलन राष्ट्रवाद((1917) के अध्ययन से यह निहितार्थ ग्रहण किया है कि गुरुदेव की राष्ट्रवाद की संकल्पना राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन, जनतंत्र एवं स्वतंत्रता के नैतिक-मानवीय आदर्शों की पृष्ठभूमि में ही परिपुष्ट होती है। उनके चिंतन में राष्ट्र अनिवार्य रूप से सभ्यता एवं संस्कृति के उच्चतम मूल्यों का 'भाव-विस्तार' है जिसमें कोई सीमाबद्धता नहीं है। भारत सबका है और सभी का भावनात्मक सीमाहीन सार्वकालिक विस्तार ही भारत है। इसकी कोई राष्ट्र-राज्य केंद्रित सीमा नहीं। यह विश्व में सबसे जुड़ा है और समस्त विश्व का एक लघुसामासिक है। यह गुरुदेव के शब्दों में विश्व के लिए भारत का अभिनव संदेश भी है और दमित मानवता के लिए उम्मीद की नई किरण भी। आशीष नंदी इशारा करते हैं कि रवीन्द्रनाथ का राष्ट्रवाद पुर्नजागरण एवं प्रबोधन की पृष्ठभूमि में निर्मित ना होकर सभ्यतागत मूल्यों के शास्वत विस्तार से आच्छादित है जिसमें विस्तृत बहुलतावादी सामाजिकता एवं विभिन्न जीवन पद्धतियों की अनुगूंज है। इस नए सामाजिक दर्शन में गलाकाट अर्थकेंद्रित प्रतियोगी भाव की प्रबलता नहीं होगी अपितु सहयोग, सहकार एवं सामंजस्य पर आधारित एक सांस्कृतिक-भावनात्मक परितुष्टि का भाव प्रधान होगा।(नंदी:1994)

टैगोर के आर्दशात्मक राष्ट्रवाद में भारत की समावेशी विचारबहुलता, विविधता। विरोधामासों का सामंजस्य विशिष्टताओं को बिना नष्ट किए, परस्पर अनुकुलता एवं संघर्षो के शांतिपूर्ण समाधान की अहिंसक जीवनपद्धति के खुले स्वीकार एवं उसका संपूर्ण उत्सव मनाने की वैभवपूर्ण स्वीकृती है। टैगोर की आशा का आकाश-दीप इसी मानुष्यिक सत्य की सर्वोच्चता पर आधारित है जो किसी भी वैचारिकी, तंत्र, सरकारों, संगठन, झण्डा, पैगंबर, निशान एवं पहचानों से परे हमारा पथ आलोकित करता रहेगा। रवीन्द्रनाथ के चिंतन को पुनर्परिभाषित करना, इसकी पुनर्रचना करना दरअसल इसी उम्मीद, इसी रोशनी और इसी 'भयहीन मष्तिष्क एवं करुणाशील हृदय से युक्त विश्व-भारती की खोज करना है।

टैगोर के अनुसार, सभ्यताओं में समूहों और समुदायों का सह-अस्तित्व आवश्यकता की दुनिया से परे जाकर संभव हुआ है। गौरतलब है कि स्वामी विवेकानन्द ने भी जिसे वे 'दुनिया में आवश्यक कार्य' और रोजमर्रा की आवश्यकता की दुनिया कहते हैं, के बीच अंतर किया था। विविध समूहों और समुदायों के समाज को एक साथ रखने के लिए केवल रोजमर्रा की आवश्यकता की पुकार का जवाब देना ही पर्याप्त नहीं है। टैगोर को संदेह था कि क्या यूरोप में औद्योगीकरण द्वारा शुरू किया गया श्रमविभाजन कभी लोगों को एक साथ लाएगा। श्रम विभाजन उद्योगों को चलाने और

चलाने की आवश्यकता को पूरा करता है। लेकिन क्या इसमें समाज को संगठित करने और उसे टूटने से बचाने की शक्ति है? जहाँ तक हम रोजमर्रा की ज़रूरतों से प्रेरित हैं, 'दुनियाभर की सभ्यताएँ एक जैसी दिखती हैं' (टैगोर 1326, पृष्ठ 78):

संकीर्ण राष्ट्रवाद को सभ्य बनाना

जैसे ही कोई टैगोर को ध्यान से पढ़ता है, उसे यह विश्वास हो जाता है कि टैगोर का लेखन त्रिस्तरीय पदानुक्रम द्वारा निर्देशित प्रतीत होता है जिसमें सभ्यता राष्ट्र से ऊपर स्थित है जबकि इससे भी उच्च स्तर पर सर्वोच्च सिद्धांत निहित है जिसे वह विभिन्न रूप से महाभारतवर्ष या ग्रेटर इंडिया के रूप में वर्णित करते हैं। (टैगोर, 2015) 'दुनिया का कानून' या विश्वविधान और सर्वांगीण हित या सर्वांगीण कल्याण मानव-धर्म या मनुष्य का धर्म प्राकृतिक नियम या प्रकृति का नियम।

आधुनिक भारतीय सामाजिक और राजनीतिक विचार राष्ट्र या सभ्यता को अनिवार्यतावादी शब्दों में परिभाषित नहीं करता है। सभ्यता शून्य में मौजूद नहीं है, बल्कि इसे साझा करने और जीनेवाले विभिन्न राष्ट्रों के भीतर मौजूद है। जबकि राष्ट्र सभ्यता का प्रतीक है, राष्ट्रों के बीच एक ही सभ्यता की विविध प्रकृति सभ्यता की किसी भी हावी और एकरंगी समझ के लिए अभिशाप है। तीसरा, भारतीय विचारधारा के अनुसार भारतीय सभ्यता की बहुलवादी प्रकृति, यह दुनियाभर में प्रायोजित और फैलाए जा रहे संकीर्ण और जुझारू राष्ट्रवाद के उदय के प्रतिकार के रूप में कार्य करता है। यह वैकल्पिक रूप से राष्ट्रों और राष्ट्रवादों के गठन की संभावनाओं को लगातार जीवित रखता है और इस प्रकार उन्हें सीमाओं के भीतर रखता है। इस तरह से देखने पर, सभ्यता किसी दूर के ब्रह्मांडीय कानून की ओर संकेत नहीं करती है - इतनी दूर कि राष्ट्रवादी ज्यादतियों और उसके सत्तावादी दुरुपयोगों के वर्तमान संदर्भ को ध्यान में नहीं रखा जा सकता है। एक राष्ट्र जो स्वयं को अपनी सभ्यता से अलग रहने की अनुमति देता है, उसे अपनी आत्मसंतुष्टि और जुझारूपन के लिए भारी कीमत चुकानी पड़ती है। प्रथम विश्वयुद्ध में जापान का विनाशकारी अनुभव इसका उदाहरण है। राष्ट्र और सभ्यता मानो एक ऐसे जाल में फंस गए हैं जिसमें प्रत्येक दूसरे पर संयमित प्रभाव डालता है।

भारतीय दर्शन और आध्यात्मिकता के प्रमुख व्यक्तित्व स्वामी विवेकानन्द ने विभिन्न लेखों और भाषणों में राष्ट्र और सभ्यता पर अपने विचार व्यक्त किये। विवेकानन्द ने राष्ट्रों और सभ्यताओं के विकास में आध्यात्मिकता के महत्व और मानव स्वभाव की गहरी समझ पर जोर दिया।

सार्वभौमिक भाईचारा

विवेकानन्द ने सार्वभौमिक भाईचारे के विचार की वकालत की। उनका मानना था कि सच्ची सभ्यता का सार प्रत्येक मनुष्य में निहित दिव्यता को पहचानने में निहित है। उनके अनुसार, एक राष्ट्र तब प्रगति करता है जब वह अपने सभी नागरिकों की भलाई को महत्व देता है और उन्हें बढ़ावा देता है, उनके बीच भाईचारे की भावना को बढ़ावा देता है।

आध्यात्मिक आधार

विवेकानन्द के लिए, आध्यात्मिक आधार व्यक्ति और राष्ट्र दोनों की प्रगति के लिए महत्वपूर्ण था। उन्होंने तर्क दिया कि केवल भौतिक प्रगति से सच्ची सभ्यता नहीं बनेगी; बल्कि, इसे आध्यात्मिक विकास के साथ जोड़ा जाना चाहिए। उन्होंने एक ऐसी सभ्यता की कल्पना की जो ज्ञान, विज्ञान और प्रौद्योगिकी की खोज को एक मजबूत नैतिक और आध्यात्मिक आधार के साथ एकीकृत करती हो।

मानवता की सेवा

विवेकानन्द का मानना था कि राष्ट्र का उद्देश्य केवल स्वार्थ नहीं बल्कि मानवता की सेवा करना है। उनके अनुसार एक सभ्यता तब अपने शिखर पर पहुँचती है जब वह न केवल अपनी समृद्धि के लिए बल्कि पूरे विश्व के कल्याण के लिए भी काम करती है। उन्होंने समाज की उन्नति के लिए एक मौलिक सिद्धांत के रूप में निस्वार्थ सेवा (सेवा) की अवधारणा पर जोर दिया। राष्ट्र और सभ्यता पर भारतीय विचार में स्वामी विवेकानन्द और महात्मा गांधी जैसे प्रभावशाली विचारकों के दृष्टिकोणों की एक समृद्ध श्रृंखला शामिल है।

स्वामी विवेकानन्द ने सच्ची सभ्यता के सार के रूप में सार्वभौमिक भाईचारे पर जोर दिया। उनका मानना था कि प्रत्येक मनुष्य में देवत्व को पहचानना राष्ट्र की प्रगति, नागरिकों के बीच भाईचारे की भावना को बढ़ावा देने के लिए महत्वपूर्ण है। विवेकानन्द ने आध्यात्मिक नींव पर आधारित एक सभ्यता की कल्पना की थी, जिसमें भौतिक प्रगति को आध्यात्मिक विकास के साथ जोड़ा गया था।

दूसरी ओर, महात्मा गांधी ने सत्य, अहिंसा (अहिंसा) और समावेशी सामाजिक न्याय के सिद्धांतों पर आधारित एक राष्ट्र की कल्पना की थी। सर्वोदय की उनकी अवधारणा का उद्देश्य राजनीतिक स्वतंत्रता से आगे बढ़कर समाज के सबसे कमजोर वर्गों के उत्थान के लिए सभी का कल्याण करना था। विविधता में एकता, मानवता की सेवा और विभिन्न धर्मों के सामंजस्यपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धांत राष्ट्र और सभ्यता पर भारतीय विचार के मूलभूत तत्व हैं।

अंततः, भारतीय चिंतन हमारा ध्यान सभ्यताओं के टकराव से हटाकर उनके सह-अस्तित्व, और सह-संविधान की कला की ओर केंद्रित करता है। मानव इतिहास इस बात का भी साक्ष्य देता है कि सभ्यताएँ कैसे रहती हैं, वे एक-दूसरे से प्रेरणा लेकर और पारस्परिक संवर्धन और मिश्रण की प्रक्रिया के माध्यम से कैसे सह-अस्तित्व में रहती हैं। दूसरे शब्दों में, 'सभ्यताओं का टकराव' तभी हो सकता है जब वे राष्ट्रों और राज्यों के बीच मौजूद शक्ति विषमता को दर्शाते हुए एक कठोर और अपरिष्कृत रूप प्राप्त करते हैं। आधुनिक भारतीय सामाजिक और राजनीतिक विचार लोगों से 'अपनी सभ्यता का प्रदर्शन' करने का आह्वान करते हैं, जैसा कि टैगोर ने कहा होगा। किसी भी सभ्यता को क्रियान्वित करना हमेशा के लिए अपूर्ण होना तय है और इन अपूर्णताओं का एहसास ही सभ्यता की मानवखोज को जीवित रखता है। सभ्यता इस बारे में अधिक है कि इसे कैसे निष्पादित किया जाता है और इस बारे में बहुत कम है कि राष्ट्रों की शक्ति विषमता में इसे कैसे संहिताबद्ध किया जाता है।

References

Fukuyama, F.(1989). The End of History, The National Interest.3-18. Summer.

Huntington, S. P. (1993): The Clash of Civilizations. Foreign Affairs. Summer. 22-49.

Huntington, S. P. (1993a). If not Ideology What? Paradigms of the Post-Cold War World. Foreign Affairs. pp.186-194.

Tagore, R. (1326 BS/1919). Japan Jatri (in Bengali) [The Pilgrim to Japan]. Santi Niketan: Jag Ananda Ray, Brahmacharyashram.

Tagore, R. (2015). Rabindra Prabandha Samagra (in Bengali) [The Full Collection of Tagore's Essays]. Kamini.

Vivekananda, S. (1977). 'Bartaman Bharat' (in Bengali) [Contemporary India] in Vivekananda Rachanasangraha, Volume VI. Boipatra. pp. 274-292.

Ashis Nandy, The Illegitimacy of Nationalism, New Delhi: Oxford University Press, 1994,
pp. 94